शोध मंथन, Impact Factor 5.463 (SJIF), UGC No. 40908 ISSN: (P): 0976-5255, (e) : 2454-339X,
Vol. X, No. 1, pp (33-42), Jan-March 2019

दलित साहित्य में भाषा और कला का प्रश्न

डॉ0 नितीन गायकवाड
असि0 प्रोफे0, हिंदी विभाग,
सावित्रीबाई फूले पुणे विश्वविद्यालय, पुणे, महाराष्ट्र
ई–मेल : nitin.hindi@gmail.com

सारांश

''दलित साहित्य में जिस भाषा का प्रयोग किया गया है, वह भाषा सामाजिक सरोकारों की भाषा है क्योंकि उन्होंने समाज के शोषित–उपेक्षित लोगों को मानवीय गरिमा और प्रतिष्ठा दिलाने के लिए साहित्यिक आंदोलन को अपनाया है। दलित साहित्य ने मनुष्य को लोकतांत्रिक बनाने के लिए लोक भाषा का प्रयोग किया है। यह लोक भाषा ब्राह्मणवाद की देवभाषा संस्कृत से कोसों दूर दिखाई देती है। दलित लेखकों ने अपनी रचना प्रक्रिया में भाषा का कलात्मक दृष्टि से प्रयोग करने की ओर ज्यादा ध्यान नहीं दिया है। इसके वाबजूद उनकी रचनाओं में भाषिक कलात्मकता सहज और सरल शब्दों में अभिव्यक्त हुई है। भाषा के इस सहज और सरल कलात्मकता के प्रयोग से दलित रचनाओं का विवेचन रोचक और पठनीय बना हुआ है। जीवन के यथार्थ अनुभवों के कारण दलित साहित्य का पाठ विश्वसनीय और विचारोत्तेजक बना हुआ है। दलित साहित्य में भाशा का यह सहज, सरल और यथार्थ अनुभवों का कलात्मक प्रयोग पाठकों का ध्यान आकर्षित करता है और साहित्य में कला के परंपरागत चले आ रहे मानदंडों में बदलाव की सख्त आवश्यकता को महसूस करता है।''

मुख्य शब्द : *शूद्र–अतिशूद्र, वेदना–विद्रोह, अस्मिता, संस्कृति, सामंतवाद, पितृसत्ता, जाति प्रथा, वर्णाश्रम व्यवस्था, ब्राह्मणवाद, लोकतंत्र, अंबेडकरवाद, संविधान आदि।*

प्रस्तावना

भाषा को मनुष्य के बीच भावों–विचारों का आदान–प्रदान करने का माध्यम कहा जाता है। लेकिन दलित और गैर–दलित एक ही समाज का हिस्सा होने के बावजूद भी दोनों के बीच भाषा के संदर्भ में विविधता क्यों दिखाई देती है? अलगाव क्यों दिखाई देता है? दलित साहित्य की भाषा वर्णश्रम व्यवस्था और जातिप्रथा के खिलाफ गुस्सा, आक्रोश और आग क्यों उगलती है? यह भाषा अन्याय–अत्याचार के खिलाफ सरेआम संघर्ष घोषित क्यों करती है? यह भाषा मानव विरोधी परंपराओं पर सवाल क्यों उठाती है? क्योंकि दलित साहित्य की भाषा सामाजिक न्याय की भाषा है। दलित साहित्य की भाषा ब्राह्मणवादी, सामंती और अभिजात्य विचारों व संस्कारों से मुक्ति की भाषा है। सामाजिक न्याय की यह भाषा समता, भाईचारा और व्यक्ति स्वतंत्रता के पक्ष में तटस्थ और निष्पक्ष अभिव्यक्त की लोकतांत्रिक संस्कृति से जुड़ी हुई है।

दलित साहित्य की रचना प्रक्रिया में शब्द चयन और भाषा शैली के प्रयोग की व्यापकता ओमप्रकाश वाल्मीकि के शब्दों में–"युगों–युगों से प्रताड़ित, शोषित, साहित्यिक, संस्कृति से वंचित मानस जब स्वयं को साहित्य के साथ जोड़ता है तो दलित साहित्य उसकी निजता को पहचानने की अभिव्यक्ति बन जाता है। हाशिए पर कर दिए गए इस समूह की पीड़ा जब शब्द बनकर सामने आती है तो सामाजिकता की पराकाष्ठा होती है। सदियों से दबा आक्रोश शब्द की आग बनकर फूटता है। तब भाषा और कला की परिस्थितियाँ उसे सीमाबद्ध करने में असमर्थ हो जाती है।"[1] दलित लेखकों ने साहित्य की भाषा में कला की अपेक्षा सामाजिक प्रतिबद्धता को महत्त्व दिया है। सदियों से जिन लोगों को मानवीय गरिमा और प्रतिष्ठा से उपेक्षित रखा गया है वे लोग स्वयं अपनी गरिमा और प्रतिष्ठा को पाने के लिए साहित्य सृजन कर रहे हैं। इसलिए इन्हें साहित्य सृजन में कला नहीं बल्कि मानवीय मूल्य ज्यादा आकर्षित करते हैं।

इतिहास में बाबा साहेब डॉ. आंबेडकर ने जिस समाज को 'मूकनायक' कहा है उस 'मूकनायक' समाज की वेदना और विद्रोह की विस्फोटक अभिव्यक्ति साहित्य की दुनिया में विशेष रूप से विचार–विमर्श और बहस के साथ–साथ समाजशास्त्रीय दृष्टि से अध्ययन–विश्लेषण करने का विषय बनी हुई है। दलित कहानीकारों द्वारा अपने यथार्थ अनुभवों के, साधारण बोलचाल के शब्दों में सामाजिक परिवर्तन के लिए शस्त्र की तरह प्रयोग किया जा रहा है। इन शब्दों में ब्राह्मणवादी, सामंती और अभिजात्य समाज के झूठे, दोहरे और अलोकतांत्रिक संस्कारों और व्यवहारों को बेनकाब करके मानवीय मूल्यों को समाज में स्थापित करने की कोशिश दिखाई देती है। यह भाशा हजारों सालों के शोषण और दमन की विस्फोटक अभिव्यक्ति है। इस विस्फोटक अभिव्यक्ति की संस्कृति में सामाजिक परिवर्तन का संदेश है। इस भाषा में केवल वेदना, विद्रोह, विरोध, नकार और प्रतिरोध ही नहीं है बल्कि भविश्य के समतामूलक समाज के निर्माण का दृढ़ संकल्प भी दिखाई देता है।

दलित साहित्य की कला लोकतांत्रिक मूल्यों से निर्मित हो रही है और वेदना–विद्रोह दलित साहित्य की कलात्मक दृष्टि को ऊर्जा दे रही है। दलित साहित्य में भाषा का प्रयोग जो कलात्मक दृष्टि से किया गया है। वह समाजशास्त्रीय दृष्टि से जुड़ा हुआ है। समाजशास्त्रीय दृष्टि का अर्थ है कला की सामाजिक प्रतिबद्धता को महत्त्व देना। रचना और पाठक के बीच का संबंध कल्पना से नहीं बल्कि यथार्थ से जोड़ा है। दलित साहित्य की यह कला यथार्थबोध और मूल्य चेतना से जुड़ी हुई है। दलित साहित्य का यह यथार्थ बोध और मूल्य चेतना साहित्य की कला को पाठक से जोड़ने का काम करती है। यह कला अभिजन संस्कृति से अलग हठकर शोषित–उपेक्षित जन से जुड़ी हुई है। दलित साहित्य की भाषा के इस कलात्मक प्रयोग में दलित दुनिया के यथार्थ अनुभवों, विचारों और संकल्पों को महत्त्व दिया है। पाठकों की दृष्टि में दलित दुनिया के यथार्थ अनुभव, नयी सोच, तर्कसंगत समझ, वैज्ञानिक विचार, दृढ़ संकल्प विश्वसनीय और अनुकरणीय है। शोषित–उपेक्षित जन से जुड़े दलित साहित्य में अभिव्यक्त कला का प्रयोग समाज को प्रेरित करने के उद्देश्य से किया हुआ है। दलित साहित्य की कला में बोझिलता नहीं बल्कि सहजता दिखाई देती है। दलित साहित्य की कला में चमक–दमक, मोहकता और

मनोरंजन नहीं है। दलित साहित्य में काल्पनिक व खोखले आदर्शों की जालसाजी नहीं दिखाई देती बल्कि मानव विरोधी प्रवृत्ति पर प्रहार की क्षमता दिखाई देती है।

दलित साहित्य पर अनगढ़, अरुचिकर, असंयत भाषा, कलात्मकता का अभाव और शिल्पगत त्रुटियों आदि आरोप अक्सर लगते रहे हैं। हिंदी प्रकाशक और संपादकों का रवैया भी इन्हें निकृष्ट मानकर नजरअंदाज करता है। कलात्मकता साहित्य के लिए जरूरी है? इस सवाल का जवाब शरण कुमार लिंबाले के शब्दों में–"मेरा यह आक्रोश मेरा दर्द है। जब मेरी माँ–बहन पर अत्याचार होता है, उसे क्या कलात्मक ढंग से अभिव्यक्त करूँ? जब मैं लिखता हूँ, तो मेरी रचनाएँ मेरे साथ हुए छल–कपट की अभिव्यक्ति होती हैं। अपने ऊपर हुए छल–कपट को कलात्मक शैली में पेश करूँ? जिसका घर जल रहा है, उसका संताप सुर में ही होना चाहिए? आक्रोश शास्त्रीय संगीत नहीं है। जो शास्त्रीय संगीत है वह आक्रोश नहीं है।

दलित लेखक की पीड़ा काल्पनिक नहीं है। व्यवस्था की उपज है। जो उसके अपने प्रश्न हैं वे इस पीड़ा, दुःख–दर्द से अलग हटकर नहीं हैं। इन से लहू का रिश्ता है। मेरे अनुभवों से मेरा रक्त–संबंध है। इसलिए मैं तटस्थ नहीं रह सकता हूँ। अन्याय सहते हुए तटस्थ रहकर कैसे रियेक्ट करूँ। यह तटस्थ भाव मुझे उदासीन भाव लगता है। कलात्मकता से मुझे क्या लेना। कलात्मकता मुझे निःशस्त्र करने वाली है। मैं शब्द की अभिव्यक्ति को शस्त्र मानता हूँ, जो मेरी मुक्ति का आंदोलन है। आंदोलन ही दलित साहित्य की कलात्मकता है। यदि यह साहित्य निकृष्ट है तो यह साहित्य चर्चित कैसे हुआ? हमारा लेखक रातों–रात बड़ा लेखक बन जाता है। पुस्तकें बिकती हैं। बहस होती है। ऐसा कैसे होता है? कलात्मक साहित्य के बारे में ऐसा नहीं होता है। मुझे लगता है कि दलित साहित्य में जीवन–मूल्य है। तभी ऐसा होता है। मैं कला से श्रेष्ठ जीवन–मूल्यों को मानता हूँ।

दलित लेखक यदि कलावाद अपनाएगा तो वह जीवनवादी नहीं हो सकता। वह अंधा हो जाएगा। उसे गुमराह करने के लिए यह प्रस्थापित और पारंपरिक साहित्य का षड्यंत्र है। जिस से दलित लेखकों को सावधान रहना चाहिए। कलावाद एक जातिवाद है साहित्य का, जो क्रांति और सामाजिक बदलाव को रोकता है। मुझे इस से सख्त घृणा है। जो समाज में रहकर समाज की नहीं, कला की बात करते हैं। जो फूलों की चिंता तो करते हैं लेकिन दुःखी, पीड़ित, शोषित की चिंता नहीं करते हैं। यह कैसी संवेदनशीलता है? क्या आदमी की चीख उन्हें सुनाई नहीं पड़ती है।"[2] ब्राह्मणवादी और तथाकथित सवर्णों के साहित्य में जो कला का रूप दिखाई देता है वह दलित दुनिया के यथार्थ को अभिव्यक्त करने के लिए क्यों सक्षम नहीं हैं? दलित साहित्य की भाषा की बुनावट जिंदगी के यथार्थ अनुभवों से बनी हुई है। यह भाषा सच कहने के लिए किसी चमक–दमक का सहारा बिल्कुल नहीं लेती है बल्कि अपनी बात बेहद सादगी और सहजता से कहती है।

वर्ण और जाति के श्रेष्ठत्व की मानसिकता प्रत्येक क्षेत्र में वर्चस्व स्थापित करने की कोशिश करती दिखाई देती है। दलित साहित्य का शिल्प श्यौराज सिंह 'बेचैन' के शब्दों में–"परंपरागत शिल्प शास्त्री दलित साहित्य में सन्निहित वैसा ही शिल्प चाहते हैं, जैसा शिल्प देखने के वे

अभ्यस्त हो गए है। वे नए विषय, नए संदर्भ और नए शिल्प जो दलित समाज, साहित्य और संस्कृति की पृथक संरचना के कारण अलग स्वरुप में है, गैर–दलित विद्वान इसे समझने की क्षमता नहीं रखते। इसलिए अपनी अयोग्यता को स्वीकार करने के बजाय वे अनाधिकार दखलअंदाजी करते हैं। वे एक जिज्ञासु विद्यार्थी की तरह वस्तु–स्थिति का अध्ययन नहीं करते। उनमें दलितों और विदेशी शोधार्थियों की तरह सीखने की इच्छा नहीं होती। वे जन्मना विद्वान होते है। वे शिल्पगत समस्याएँ उत्पन्न करते है। क्योंकि गैर–दलित साहित्यकार आलोचक और संपादक आत्ममुग्धता में जीते रहे हैं। जिन स्थितियों में दलित साहित्य गुजर रहा है उसका शिल्प भी उसी के अनुरूप विकसित हो रहा है।"[3] दलित साहित्य की भाषा को समझने के लिए गैर–दलितों की अकादमिक क्षमताओं और सक्षमताओं पर श्यौराज सिंह 'बेचैन' ने सवाल उठाया है। क्योंकि जिन लोगों ने अपने स्वार्थों को साधने के लिए अमानवीय मूल्यों को समाज में बढ़ावा दिया है उन्हीं लोगों की दलितों की भाशा को नकारने की कोशिश रही है।

दलित साहित्य में कला का रूप किस प्रकार का दिखाई देता है? और इस कला में किसे महत्त्व दिया हैं? इन प्रश्नों पर दलित लेखकों का कहना है कि दलित साहित्य में अभिव्यक्त कला शोषित और उपेक्षित लोगों के जिंदगी से जुड़ी हुई है। शोषित और उपेक्षित लोगों की कला लोकतांत्रिक मूल्यों को महत्त्व देती है। डॉ. रजत रानी 'मीनू' के शब्दों में–"दलित कथा–साहित्य को हिंदी साहित्य के कलात्मक स्तर के मानदंडों से भिन्न रूप में देखने की आवश्यकता है, क्योंकि दलित कथा–साहित्य का सीधा संबंध दलित समाज और व्यक्ति के जीवन को युगीन लोकतांत्रिक मूल्यों तथा संवैधानिक संदर्भों के साथ पहले से बेहतर बनाने तथा सामाजिक समता प्राप्त करने के रचनात्मक प्रयास से है। उसके पीछे से सक्रिय आकांक्षाएँ साहित्य में कलात्मक रूप ग्रहण कर सामने आ रही हैं। दलित कथा–साहित्य के इस कलात्मक रूप और स्तर को परंपरागत कलावादी कसौटियों पर कसकर नहीं देखा जा सकता। उसके लिए पुराना कला–पक्ष गौण वस्तु है। इसका आशय यह नहीं कि दलित कथा–साहित्य कला–शून्य है।"[4] डॉ. रजत रानी 'मीनू' दलित साहित्य की भाषा का मूल्यांकन करने के लिए योग्य मानदंडों का प्रयोग करने की बात करती है। क्योंकि परंपरागत सोच–विचार दलित साहित्य का मूल्यांकन करने के लिए सक्षम नहीं हैं।

साहित्य और कला का संबंध क्या हैं? साहित्य में कला का होना क्यों अनिवार्य है? साहित्य में भाषा की कला और उसका मूल्य क्या होना चाहिए? साहित्य में बगैर कलात्मकता के भाषा का मूल्य और महत्त्व क्या है? इन तमाम सवालों के जवाब राजेन्द्र यादव के शब्दों में–"कलात्मकता अंततः एक विशेष 'ढांचे' (कंस्ट्रक्ट) का ही दूसरा नाम है। फिर वह भले ही रचना के अंदर से उगता हो, या ऊपर से दे दिया जाता हो। दूसरे शब्दों में द्रव को विशेष प्रभाव के लिए सब से सही और पारदर्शी पात्र में बाँधने की तकनीक, रचना के संदर्भ में भाषा की साधना, कोई भी अनुभूति, आभास या उद्भास उस समय तक रचना नहीं है जब तक कि वह भाषा में व्यक्त न हो। बल्कि बिना भाषा के हम शायद किसी अनुभव को भी आत्मसात नहीं कर पाते–शब्द रूप से भी पहले। भावों को शब्द देना, अनुभूत या अमूर्त को भाषा में ढालना ही नहीं, उसे मूर्त

करना है, यानी एक रूप देना है। भाषा में अव्यक्त को पकड़ने की इस प्रक्रिया को हम जो तरतीब और तर्क देते हैं–यह तरतीब और तर्क ही रूप के व्याकरण हैं। चाहें तो इन्हें 'नॉर्म्स' कह लें। यानी कलात्मकता के कुछ नियम होते हैं, हो सकता है वे बहुत लचीले और हर क्षण बदलते रहने वाले हों।

सृजन–प्रक्रिया में, नीत्शे के अनुसार चाहे जितना कुछ इण्ट्यूटिव (सहज बोध) या अज्ञेय होता हो, हमारा सारा प्रयास उस अमूर्त और अज्ञेय को शब्दों में पकड़ने और फिसलते जाते बोध को वापस समेट लेने का ही बना रहता है–इसी को कहते हैं 'शब्द सिद्धि' यानी सही भाव के लिए सटीक शब्द की तलाश–भाव को सही शब्द देना और भाषा में अभिव्यक्त करना।"[5] राजेन्द्र यादव ने साहित्य में मानवीय मूल्यों को महत्त्व देकर कला को प्रभावशाली कैसे बनाया जा सकता है यह बताया है। साथ ही शब्दों के सही चुनाव से भाव–भावनाओं को प्रभावशाली भाषा में कैसे अभिव्यक्त किया जा सकता है इस बात की ओर सकेत किया है।

भाषा विज्ञान और मनोविज्ञान के नियमों के अनुसार किसी भी समुदाय की भाषा को शब्दों की विशिष्ट बनावट तथा बुनावट से आकार दिया जाता है। शब्दों के अनेक अर्थों की पहचान और उसका विकास नयी भाषा के सृजन का संकेत है। इस नये शब्द को अर्थ और नयी भाषा का सृजन व विकास की प्रक्रिया डॉ. मैनेजर पाण्डेय के शब्दों में–"संघर्षशील समाज और वर्ग ही नयी भाषा और नये शब्दों का विकास करते हैं। जहाँ जीवन में नयी आशा होती है, नयी–नयी अभिलाषाएँ होती हैं, जीवन का नया नक्शा होता है और इन सब को पाने के लिए संघर्ष होता है वहीं नयी भाषा और नये शब्दों के विकास की संभावना होती है।"[6] दलित साहित्य की भाषा और शब्द चयन को सकारात्मक दृष्टि से देखने की आवश्यकता की ओर डॉ. मैनेजर पाण्डेय ने ध्यान आकर्षित किया है, क्योंकि संघर्ष की अभिव्यक्ति दलित साहित्य की मूल भावना में दिखाई देती है।

किसी भी संवेदनशील कला की कसौटी क्या होनी चाहिए? कला और समाज का संबंध क्या है? साहित्य में इन प्रश्नों पर चिंतन जारी है। संवेदनशील कला की कसौटी, कला और समाज का संबंध रमणिका गुप्ता के शब्दों में–"साहित्य में कला की अपेक्षा चोट करने की क्षमता यदि अधिक हो तो यह अधिक सार्थक होता है। दलित साहित्य आनंद के लिए नहीं बल्कि परिवर्तन के लिए लिखा जाता है। सार्थक कहानी के लिए कलात्मकता की बजाय हकीकत, दृष्टि, दिशा एवं वर्तमान व्यवस्था की सड़ांध के प्रति घृणा आवश्यक है, तभी उसमें एक ऐसी सृजनात्मक शक्ति उत्पन्न होगी जिस से एक नई संस्कृति और नई दुनिया की पृष्ठभूमि तैयार होगी। पुरानी लकीरों को पीटने से संतुलन भले ही हिलडुल जाए, पर परिवर्तन नहीं होगा। दलित कहानी पुरानी लीक से हटकर चलने की मुहिम चलाने को कटिबद्ध है।"[7] रमणिका गुप्ता कला की सार्थकता और उसकी उपयोगिता शोषित–उपेक्षित समाज के हित में होने का समर्थन करती है। क्योंकि एक सुंदर, सभ्य, संवेदनशील लोकतांत्रिक व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का सृजन मेहनतकश समाज के साहित्य द्वारा विशिष्ट कलात्मक सृजन के माध्यम से ही संभव है।

सामंतवादी साहित्य में कला का मूल्य और महत्त्व केवल मनोरंजन तक सीमित दिखाई

देता है। लेकिन दलित लेखकों की दृष्टि में कला का मूल्य और महत्त्व केवल मनोरंजन तक सीमित नहीं है बल्कि मनुष्य के सुख–दुख तथा मानवीय मूल्यों के साथ जुड़ा हुआ है। शरण कुमार लिंबाले के शब्दों में–"आज तक साहित्य में प्रतिभा थी, चिंतन था मगर आम आदमी नहीं था। हम ने वह जोड़ दिया। दलित साहित्य सौंदर्य को नकारता है, कला को नकारता है ऐसा नहीं है। हम कला को मानते हैं, सौंदर्य को मानते हैं। कला महत्त्वपूर्ण है, कलामूल्य महत्त्वपूर्ण हैं। साहित्य अत्यंत उच्च कोटि का होता है और होना चाहिए ऐसा हम मानते हैं। साहित्य का महत्त्व हम नकारते नहीं। और हम सौंदर्य का महत्त्व भी नहीं नकारते। साहित्य में सौंदर्य होना चाहिए, प्रतिभा होनी चाहिए, कल्पना होनी चाहिए। उसके सिवा वह साहित्य हो ही नहीं सकता। केवल मुझ पर अन्याय–अत्याचार हुए ऐसा बताने से साहित्य का निर्माण नहीं होता है।

अन्याय–अत्याचार को व्यक्त करने के लिए प्रतिभा, सामर्थ्य होना चाहिए। क्योंकि वह साहित्य के रूप में पढ़ा जानेवाला है और साहित्य के रूप में कालजयी बननेवाला है। समाज में घटित अन्याय–अत्याचार को साहित्य में व्यक्त करते समय कला के माध्यम से व्यक्त करना होता है। इसलिए उसमें कला मूल्य होने ही चाहिए। उसके सिवा वह कालजयी साहित्य हो ही नहीं सकता और जिस साहित्य में अन्याय–अत्याचार विरोधी भावना होती है, वही साहित्य कालजयी बनता है।"[8] शरण कुमार लिंबाले की इस बात से यह स्पष्ट है कि दलित साहित्य कला से ज्यादा सामाजिक मूल्यों और प्रतिबद्धता को स्वीकारता है। दलित लेखकों के लिए सामाजिक मूल्य महत्त्वपूर्ण तथा प्रिय है। मुख्यधारा की कला इस मान्यता से अलग दलित साहित्य की कला को परिभाषित करती है। दलित साहित्य ने कला को सामान्य जन चेतना से जोड़ने की कोशिश की है। शोषण की प्रक्रिया और पद्धति को साहित्यिक भाषा में अभिव्यक्त करने के लिए प्रभावी शब्दों का चयन करने की आवश्यकता को महसूस किया है।

शब्द और भाषा के संबंध से हम परिचित है तथा भाषा और समाज का संबंध अटूट है। इसका कारण स्पष्ट है कि मनुष्य समाज का हिस्सा होता है। आपस में बातचीत करने के लिए भाषा का प्रयोग करना अनिवार्य है। शब्द और भाषा, भाषा और समाज के संबंध और संदर्भ राजेन्द्र यादव के शब्दों में–"शब्द या भाषा, समाज की संपत्ति है, वह हमारे भीतर भी है और बाहर भी। वह हमारे बिना भी रही है। उसका जन्म संवाद की जरूरत से होता है। हम उसे चाहे जितना निजी या आत्मतत्व बना लें–वह एक ऐसा बाहरी (सामाजिक) उपकरण है जिसकी मदद से हम अपने होने को महसूस (रियलाईज़) करते हैं और इस अनुभूति या अपने 'भीतर' को बाहर लाते हैं–यानी 'शब्द' संवाद बनता है। शब्द का एक सिरा हमारे पास है तो दूसरा 'अन्य' के। इस तनी डोरी पर हमें नट की तरह बाहर–भीतर जाना पड़ता है। कहने का मतलब यह है कि अभिव्यक्ति–अन्य–निरपेक्ष नहीं होती–वह संप्रेषण भी होती है।

भाषा का होना समाज–सापेक्ष्य होना है। यानी भाषा एक साथ ही आत्मबोध, संवाद, संबोधन सभी कुछ है। चूँकि अभिव्यक्ति, दृश्य–अदृश्य 'अन्य' को संप्रेषित होने (या होने की आकांक्षा) के लिए संबोधन है, इसलिए बेहद निजी, विलक्षण या विशिष्ट होते हुए भी सामान्य या अन्य–बोधी बनती जाती है। भाषा रूप लेते ही सामाजिक या सामुदायिक हो जाती है। इस

सार्वजनिकता के बीच ही विशिष्टता की रक्षा का नाम है कलात्मकता। रचना का माध्यम व्यक्ति हो सकता है, मगर वह अपने स्त्रोत और लक्ष्य दोनों में सामाजिक सृजन है, इसी तथ्य की स्वीकृति को हम रचना में आस्था कहें या प्रतिबद्धता–फर्क कहाँ पड़ता है। हाँ, समस्या तब उठती है जब हमारी आस्था स्वयं साहित्य में न हो और हम प्रतिबद्धता और कलात्मकता को अलग–अलग या एक–दूसरे के प्रतिपक्ष की तरह देखें।"[9] भाषा के अस्तित्व का संबंध व्यक्ति और समाज के बीच के संवाद पर निर्भर होता है। भाषा दो व्यक्ति और समाज को जोड़ने और तोड़ने के दोनों कामों को सहजता से करती है।

दलित लेखकों की दृष्टि से रचना की कलात्मकता को सार्थक बनाने के लिए उस में सामाजिक मूल्यों और प्रतिबद्धता का होना अत्यंत महत्त्वपूर्ण है। कोई भी कला सामाजिक संरचना से जुड़े बगैर विकसित होना लगभग असंभव होती है। कला को सामाजिक मूल्यों और प्रतिबद्धता से जुड़ने के लिए सामाजिक संरचना को समझना आवश्यक है। राजेन्द्र यादव के शब्दों में–"जहाँ तक अभिजातों द्वारा दलित साहित्य की आलोचना का सवाल है तो मुझे सिर्फ एक ही उदाहरण याद आता है। रामचंद्र शुक्ल ने कबीर के लिए कहा है कि इनके पास व्याकरण नहीं है, कोई भाषा नहीं है, यहाँ–वहाँ से शब्द उठाए, वहाँ से सूत्र उठाए, विचार सुने–सुनाए हैं, इन्हें दर्शन का कोई ज्ञान नहीं है, इन्हें शास्त्रों का ज्ञान नहीं है, इनकी कविताओं को साहित्य नहीं कहा जा सकता। यह सब उन्होंने तुलसीदास के संदर्भ में कबीर के लिए कहा था।

लेकिन उनके 50–60 साल बाद स्थिति यह हो गई कि तुलसीदास धीरे–धीरे धार्मिक लोगों या प्राध्यापकों के पास ही सीमित होकर रह गए। क्या वजह है, आज कोई सेमिनार, कोई बहस या बातचीत कबीर के बिना हो नहीं सकती, भविष्य का साहित्य तो कबीर के साथ है या कबीर जैसे लोगों के साथ है, चाहे उनके पास भाषा न हो, चाहे उनके पास कलात्मक सौष्ठव, रमणिक शब्दावली या तराश न हो, उतनी खूबसूरती से वे अपनी बात को न रख सकें, मगर तिरस्कार करने की बजाए, उन्हें समझने का साहस विकसित करने की जरूरत है, बजाय इसके कि हम उन्हें बार–बार यह शिक्षा दें कि तुम हमारी तरह लिखो, हमारी भाषा सीखो, हमारे जैसी बारीक–बयानी पैदा करो, तभी लेखक बनोगे।"[10] राजेन्द्र यादव इस बात का संकेत देते है कि दलित साहित्य की भाषा का भविष्य कबीर की परंपरा के साथ जोड़कर देखना चाहिए। जिस भाषा के प्रयोग के कारण कबीर को स्वीकारने में अभिजात्य समाज ने संकोच दिखाया था, आज दलित साहित्य की भाषा के साथ भी यही स्थिति और सोच–विचार दिखाई देता है।

कला और साहित्य का संबंध क्या है? दलित साहित्य में कला के मूल्य को महत्त्व क्यों नहीं दिया जाता है? साहित्य में इन सवालों पर निरंतर बहस जारी है और इन सवालों का विश्लेषण अशोक वाजपेयी के शब्दों में–"साहित्य कला है और इसलिए वहाँ कलात्मकता की माँग स्वाभाविक है। कई बार अनुभवों का ताप और तीखापन कलात्मकता को अतिक्रमित कर अपने को स्थापित कर लेता है। दलित साहित्य के संदर्भ में ऐसा होता रहा है। लेकिन जहाँ तक मेरी समझ है, दलित लेखक अपने लिए कोई कलात्मकता रियायत की माँग नहीं करते हैं, ये उन्हें करना चाहिए। अभी तक हिंदी दलित साहित्य ने कोई वैकल्पिक सौंदर्यशास्त्र प्रस्तावित या अपने

साहित्य–व्यवहार से रचा हो ऐसा कम–से–कम मुझे, नहीं लगता।"[11] अशोक वाजपेयी ने कलात्मक मूल्यों के बगैर साहित्य की सार्थकता सिद्ध न होने की ओर इशारा किया हैं। दलित साहित्य में कला की कमी होने की बात की है। साथ ही दलित साहित्यकारों को कला के प्रयोग में समझौते करने की सलाह भी दी है।

दलित साहित्य की कला गैर–दलित साहित्यिक कला से अलग क्यों दिखाई देती है? देवेन्द्र चौबे के शब्दों में–"अपनी बात जैसी है, जहाँ भी है, जिस रूप में है, जो दिमाग में है, वही जुबान पर और कागज पर। न तो गढ़ने की कोई कला और न ही सौंदर्य की कोई चिंता। जीवन की भाषा जैसी है, रचना की भाषा भी वैसी ही है; जीने की कला जैसी है, लेखन की शैली भी वैसी ही है। कोई छिपाव व दुराव नहीं। यह यथार्थ है। एक वास्तविक यथार्थ–जो छद्म कला, सौंदर्य और बौद्धिकता को आँख दिखाता–आगे बढ़ जाता है।"[12] डॉ. देवेन्द्र चौबे के अनुसार दलित कहानी की भाषा–शैली सरल और सहज दिखाई देती है क्योंकि इसमें जो सच व्यक्त हुआ है वह भोगा हुआ यथार्थ हैं।

कहा जाता है कि साहित्यिक रचनाओं में शिल्प को अनदेखा नहीं किया जा सकता है क्योंकि रचना को अर्थपूर्ण तथा प्रभावशाली बनाने के लिए इसका होना अनिवार्य रूप से देखा जाता है। लेकिन दलित साहित्य में रचना को प्रभावशाली एवं विश्वसनीय बनाने के लिए भाषा शैली और शिल्प से ज्यादा किन किन बातों पर जोर दिया गया है? इस बात का खुलासा रमणिका गुप्ता के शब्दों में–"दलित साहित्य में वस्तु प्रधान है। शैली व शिल्प महत्त्वहीन तो नहीं है, पर यदि वे अभिव्यक्ति में बाधक बने तो वह अस्वीकार भी कर दिये जा सकते हैं। दलित साहित्य में भोगे हुए सत्य यानी कि प्रामाणिक सत्य, विश्वसनीय यथार्थ लिखने का विशेष आग्रह है। दरअसल इतने बड़े समाज की व्यथा, पीड़ा, आक्रोश, संकल्प को समाहित करने की शक्ति शिष्ट साहित्य के शिल्प व शैली में नहीं हैं उनकी कल्पना इनकी पीड़ा को समझ ही नहीं सकती और ना ही उनका अहम भरा सुविधापरक विवेक इनके आक्रोश को व्यक्त होने दे सकता है।"[13] रमणिका गुप्ता के अनुसार दलित साहित्य में कला का रूप विद्रोही दिखाई देता है, क्योंकि दलित साहित्य की कला अन्याय–अत्याचार की उपज है। लेकिन इस विद्रोही कला में नये के सृजन का संकेत दिखाई देता है। इस विद्रोही कला में मानवीय गरिमा और अधिकारों के सवालों को उठाया है।

दलित साहित्य की कला में मनोरंजकता क्यों नहीं दिखाई देती हैं? दलित की हरेक रचना सवाल से क्यों शुरू होती है? दलित लेखन में कला का स्वरुप कहीं पर दिखाई भी देता है तो वह किस प्रकार का है? राजेन्द्र यादव के शब्दों में–"दलित उस तरह समाज के बीच नहीं हैं–वे परिधियों पर फेंक दिए गए लोग हैं। गरीबी, अश्लीलता, गंदगी, बेरोजगारी के साथ–साथ उनका संघर्ष उस अपमान और तिरस्कार से लड़ना भी है जो हमारे बीच अपने पर या रहते हुए उन्हें भुगतना पड़ता है। सिर्फ जिंदा रहने की लड़ाई इतनी फुर्सत ही नहीं देती कि वे अपने अनुभवों से ऊपर उठकर उन्हें रचना का स्वरूप दे सकें।"[14] राजेन्द्र यादव इस बात का संकेत देते है कि दलित लेखन की कलात्मक अभिव्यक्ति उनके रोजमर्रा की जीवन की यातनाओं और संघर्षों से

जुड़ी हुई है। यह कलात्मकता उस व्यवस्था को सोचने के लिए विवश करती है जो व्यवस्था सदियों से उनके अस्तित्व को दुत्कारती और नकारती आ रही है।

संक्षेप में, साहित्यिक विचार–विमर्श और विचारधारा की दुनिया में दलित साहित्य की भाषा की विशेषता और उसमें जो विविधता है इस पर काफी विवाद हुआ है। इन तमाम विवादों के पक्ष–विपक्ष में तटस्थ व निष्पक्ष दृष्टि से दलित और गैर–दलित लेखकों–आलोचकों ने तर्कसंगत व विस्तार से विचार व्यक्त किए हैं। मनुष्य के जन्म से भाषा के साथ उसका अटूट संबंध रहा है। भाषा का यह संबंध उसके अस्तित्व के साथ जुड़ा हुआ है। दलित साहित्य की भाषा का सवाल शोषित और उपेक्षित लोगों की अस्मिता से जुड़ा हुआ है। भाषा का यह प्रभावशाली प्रयोग सामाजिक दृष्टि से सटिक बेबाक और परिवर्तनकामी दिखाई देता है। दलित साहित्य में शिक्षा, संगठन, संघर्ष, स्वाभिमान, समता, करुणा शील, लोकतंत्र और अधिकार जैसे रचे–बसे शब्दों के प्रयोग से यह बात साफ होता है क्योंकि यह यह साहित्य परिवर्तन और विकास से जुड़ी हुई है। दलित साहित्य की भाषा दमन और शोषण का वर्चस्व और विचारधारा के खिलाफ विरोध को दर्ज करती है। इस भाशा में वैचारिक स्पष्टता, सामाजिक प्रतिबद्धता और तार्किक विश्लेषण दिखाई देता है। दलित साहित्य की भाषा में दलित जीवन के अंतर्निहित आशय और यथार्थ को अभिव्यक्त करने की क्षमता दिखाई देती है। यह क्षमता दलित समाज में मौजूद दुर्बल सोच को एक नयी चेतना तथा ऊर्जा का स्वरुप देने में सफल रही है।

संदर्भ ग्रंथ

1. वाल्मीकि ओमप्रकाश–*दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र,* राधाकृष्ण प्रकाशन प्रा. लि. 7/31, अंसारी मार्ग, दरियागंज, नयी दिल्ली–110 002, प्रथम संस्करण–2001, पृ. **104**
2. लिंबाले शरण कुमार (हिंदी अनुवाद : रमणिका गुप्ता)–*दलित साहित्य का सौंदर्यशास्त्र,* वाणी प्रकाशन, 21–ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110 002, द्वितीय संस्करण–2005, पृ. **131–32**
3. *कल के लिए,* दिसंबर–1998, पृ. **62**
4. 'मीनू' रजत रानी–*हिंदी दलित कथा–साहित्य : अवधारणाएँ और विधाएँ,* अनामिका पब्लिशर्स एंड डिस्टीब्यूटर्स (प्रा. लि.) 4697/3, 21–ए, अंसारी रोड, दरियागंज, नयी दिल्ली–110 002, संस्करण–2000, पृ. **266**
5. यादव राजेन्द्र–*खंड–खंड पाखंड,* खंड–8, वाणी प्रकाशन, 21–ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110 002, प्रथम संस्करण –1998, पृ. **107**
6. पाण्डये मैनेजर–*आलोचना की सामाजिकता,* वाणी प्रकाशन, 21–ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110 002, प्रथम संस्करण–2005, पृ. **96**
7. गुप्ता रमणिका–*दलित चेतना : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार,* समीक्षा पब्लिकेशन्स, एक्स/3284 ए, स्ट्रीट नं. 4, रघुबरापुरा नं. 2, गाँधी नगर, दिल्ली–110 031, संस्करण–2008, पृ. **103**

8. रणसुभे सूर्यनारायण (संपादक)– *दलित चेतना की पहचान,* वाणी प्रकाशन, 4695, 21–ए, दरियागंज, नयी दिल्ली –110 002, प्रथम संस्करण–2013, पृ. **92**
9. यादव राजेन्द्र– *खंड–खंड पाखंड,* खंड–8, वाणी प्रकाशन, 21–ए, दरियागंज, नयी दिल्ली–110 002, प्रथम संस्करण –1998, पृ. **107**
10. चौधरी उमाशंकर (संपादक)– *हिस्सेदारी के प्रश्न–प्रतिप्रश्न : दलित विमर्श*–2, अनामिका पब्लिषर्स एंड डिस्टीब्यूटर्स, दरियागंज, नयी दिल्ली–110 003, संस्करण–2009, पृ. **371–72**
11. वही, पृ. **375**
12. चौबे देवेन्द्र– *आधुनिक साहित्य में दलित विमर्श,* ओरियंट ब्लैकस्वॉन, प्राइवेट लिमिटेड, 1/24 आसफ अली रोड़, नयी दिल्ली–110 002, प्रथम संस्करण–2009, पृ. **123**
13. गुप्ता रमणिका– *दलित चेतना : साहित्यिक एवं सामाजिक सरोकार,* समीक्षा पब्लिकेशन्स, एक्स/3284 ए, स्ट्रीट नं. 4, रघुबरापुरा नं. 2, गाँधी नगर, दिल्ली–110031, संस्करण–2008, पृ. **89**
14. यादव राजेन्द्र– *आदमी की निगाह में औरत,* राजकमल प्रकाशन प्रा. लि. 1–बी, नेताजी सुभाष मार्ग, नयी दिल्ली –110 002, प्रथम संस्करण–2001, पृ. **175**